फ्रांस में जनता के एकजुट संघर्ष की एक विजय

लेकिन यह समय जीत के जश्न का नहीं... आने वाले युद्ध की तैयारी का है

● अभिनव

फ्रांस की सरकार द्वारा पेश किए गए 'फर्स्ट एम्प्लॉयमेण्ट काण्ट्रैक्ट' (प्रथम रोज़गार अनुबन्ध) के ख़िलाफ़ फ्रांस की जनता ने एकजुट होकर जो शानदार और विजयी संघर्ष चलाया उससे दुनिया भर में जनता के संघर्षों को एक प्रेरणा मिली है। इसने पूँजीवादी-साम्राज्यवादी लुटेरों को एक ज़बर्दस्त चुनौती और चेतावनी दी है। इस विजय के बाद ही वहाँ के छात्रों और मज़दूरों ने सरकार के अन्य जनविरोधी श्रम कानूनों और सुधारों के ख़िलाफ़ एक नये संघर्ष का एलान कर दिया। लेकिन मीडिया से यह पूरी ख़बर एकदम ग़ायब रही।

फर्स्ट एम्प्लॉयमेण्ट काण्ट्रैक्ट के तहत सरकार पूँजीपतियों के लिए 'हायर एण्ड फायर' ('जब चाहो रखो जब चाहो निकाल बाहर करो') की नीति का इंतज़ाम कर रही थी। इस आन्दोलन की शुरुआत इसी नये कानून के ख़िलाफ़ हुई। 16 मार्च को लगभग 7 लाख लोग इस कानून के ख़िलाफ़ पेरिस की सड़कों पर उतर आए। 81 में से 64 विश्वविद्यालय के छात्रों ने इस आन्दोलन में शामिल होकर इसे देशव्यापी बना दिया। दूसरी तरफ़ मज़दूर संगठन पहले ही देश भर में इसके ख़िलाफ़ सड़कों पर उतर चुके थे। लगभग सारे विश्वविद्यालय और सेकेण्डरी स्कूल इस कानून के ख़िलाफ़ बन्द हो गए। 1968 के छात्र आन्दोलन का दुर्ग बना सारबॉन विश्वविद्यालय इस बार भी आन्दोलन का केन्द्र बन गया। मजबूरन सरकार को इसे ख़ाली कराना पड़ा। इन प्रदर्शनों के बावजूद सरकार ने इन कानूनों को आधिकारिक तौर पर लागू कर दिया। और तो और याक शिराक और प्रधानमन्त्री विलेपां ने इसे रोज़गार बढ़ाने वाला कानून बताया। नतीजा यह हुआ कि आन्दोलन और ज़्यादा भड़क गया। आन्दोलनकारी छात्रों और मज़दूरों के संगठनों ने सरकार को चेतावनी दे दी कि अगर ईस्टर के त्योहार यानी 17 अप्रैल तक अगर यह कानून वापस न लिया गया तो आन्दोलन को और उग्र और व्यापक पैमाने पर चलाया जाएगा। सड़क, रेल, यातायात, कारख़ाने, बन्दरगाह और हवाई अड्डों पर जाम लगना शुरू हो गया। देश ठप सा पड़ने लगा। यह देखकर सरकार भयभीत हो गई और मजबूरी में उसे यह कानून वापस लेना पड़ा। जनता की यह जीत विशेष तौर पर व्यापक और जुझारू छात्र-मज़दूर एकता के बल पर मिली। इस आन्दोलन में विभिन्न छात्र संगठन, ट्रेड यूनियनें, विपक्षी पार्टियाँ और वामपंथी संगठन शामिल थे। लेकिन इस आन्दोलन को चलाने और फिर जिताने वाली असली ताक़त थी छात्रों और मज़दूरों की।

इस आन्दोलन की आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को वैश्विक परिदृश्य में समझने की आवश्यकता है। साथ ही इस आन्दोलन की एक समीक्षा की भी आवश्यकता है।

भूमण्डलीकरण के इस दौर तीसरी दुनिया के देशों की मेहनतकश आबादी तो ख़ास तौर पर देशी और विदेशी पूँजी द्वारा लूटी-खसोटी और निचोड़ी जाती है। लेकिन इस वैश्विक लूट के उन्नत होने के साथ ही साम्राज्यवादियों के लिए यह लूट भी कम पड़ जाती है। साम्राज्यवाद के विकास की शुरुआती मंज़िल में स्थिति कुछ और थी। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में उन्नत पूँजीवादी उपनिवेशवादी देशों ने तीसरी दुनिया के देशों को अपना उपनिवेश बनाया और वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों और उजरती श्रम का जमकर दोहन किया और अपने यहाँ ज़बर्दस्त ऐश्वर्य और समृद्धि पैदा की। इस लूट के एक हिस्से से उन्होंने अपने देश के मज़दूरों को तमाम सुविधाएँ दीं और उनके रैडिकलिज़्म को एक व्यवस्थित और योजनाबद्ध प्रक्रिया के जरिये ख़त्म किया। वहाँ एक लेबर अरिस्टोक्रेसी पैदा हुई जो संगठित तो बहुत थी लेकिन व्यवस्था विरोधी नहीं। ऐसा नहीं कि वहाँ गरीब मज़दूरों का कोई तबका नहीं था। लेकिन वह अधिकांश असंगठित, लम्पट सर्वहारा के रूप में था। साथ ही इस लूट के एक हिस्से का इस्तेमाल

असंगठित, लम्पट सर्वहारा के रूप में था। साथ ही इस लूट के एक हिस्से का इस्तेमाल साम्राज्यवादियों ने अपने देश की जनता को रोज़गार और सामाजिक सुरक्षा देने में किया ताकि उनके देश में कभी पूँजीवाद को कोई ख़तरा न पैदा हो। साथ ही दुनिया के मज़दूरों के साथ उनके देश के मज़दूर भाईचारा न महसूस करें इसके लिए उन्होंने उनमें नस्लवाद, श्रेष्ठतावाद और 'व्हाइट मेंस बर्डेन' जैसी प्रतिक्रियावादी सोच को शिक्षा आदि के जरिये भरा।

लेकिन पूँजीवाद का एक नियम होता है। पूँजी या तो विस्तारित होती है या नष्ट हो जाती है। जब तीसरी दुनिया के सभी देशों और अन्य पिछड़े देशों में लूट का साम्राज्य पुख़्ता ढंग से क़ायम हो गया तो फिर अब पूँजी मंगल ग्रह या प्लूटो ग्रह पर तो जाती नहीं! अब उसको लूट की नयी सम्भावनाओं की ज़रूरत पड़ती। यही आज हो रहा है। तीसरी दुनिया को पूरी तरह निचोड़ने के बाद अब वैश्विक पूँजी की लूट की ज़द में धीरे-धीरे उन्नत देशों की जनता भी आएगी। भले ही वहाँ इस लूट की सघनता उतनी न हो। लेकिन वहाँ की राजनीतिक चेतना के अनुसार थोड़ी लूट भी जनता को सड़कों पर उतारने के लिए काफ़ी होगी। जैसा कि फ्रांस में हुआ। कानून के प्रस्तावित होते ही जनता सड़कों पर थी। अब पूँजी के सामने एक भारी संकट है कि लूट के लिए नए बाज़ार और नए मज़दूर वह कहाँ से लाए। तीसरी दुनिया में सम्भावनाएँ लगभग निचोड़ी जा चुकी हैं। उन्नत देशों की जनता में यह बहुत मुश्किल है। यही कारण है कि अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और आस्ट्रेलिया जैसे देशों में भी अब श्रम कानूनों को ढीला किया जा रहा है और लूट की पृष्ठभूमि तैयार की जा रही है। लेकिन यह पूँजीपतियों के टुकड़ों पर पलने वाले और उनके तलवे चाटने वाले बुद्धिजीवी भी समझ रहे हैं कि यह ख़तरनाक होगा।

यह तो रही बात पूँजी के अन्तकारी रोग (टर्मिनल डिज़ीज़) की। लेकिन पूँजीवाद सिर्फ़ इसी से अपने आप ख़त्म नहीं होगा।

छात्र-मज़दूर एकता की शानदार फ्रांसीसी परम्परा

लगता है फ्रांस की यह परम्परा सी बन गई है कि कोई भी संघर्ष हो मज़दूर और छात्र साथ ही लड़ते हैं। चाहे वह 1968 के व्यापक छात्र संघर्ष की बात हो, या 1995 में हुई देशव्यापी हड़ताल की बात हो या फिर बीच-बीच में होने वाले तमाम छिट-पुट मज़दूर और छात्र संघर्षों की बात हो। जब भी कोई एक सड़क पर उतरता है तो दूसरा अपना झण्डा लिए उसके साथ लड़ने के लिए सड़कों पर उतर जाता है। मज़दूरी बढ़ाने की माँग को लेकर मज़दूर लड़ते हैं तो छात्र उनके साथ आ जाते हैं; फीस वृद्धि के ख़िलाफ़ छात्र लड़ते हैं तो मज़दूर उनके साथ आ जाते हैं। यह एक ऐसी परम्परा है जिससे भारत समेत दुनिया भर की जनता को सीखना होगा। यह एकजुटता प्रेरणादायी है।

क्या था 'फर्स्ट एम्प्लॉटमेण्ट काण्ट्रैक्ट'?

फ्रांस सरकार द्वारा जारी 'फर्स्ट एम्प्लॉयमेण्ट काण्ट्रैक्ट' (प्रथम रोजगार अनुबन्ध) नियोक्ताओं को 26 साल से कम उम्र के कर्मचारियों को जब चाहे रखने और जब चाहे निकालने की खुली छूट देता था।

इस नये कानून के तहत 26 वर्ष से कम उम्र के कर्मचारियों को ट्रायल के तौर पर रखे जाने का प्रावधान था। इस दौरान नियोक्ता बिना कारण बताये कर्मचारियों को निकाल सकता था। यही नहीं, दो साल के बाद यह कानून पुरानें काण्ट्रैक्ट में बदल जाता था जिससे पारम्परिक तौर पर नौकरी की जो सुरक्षा मुहैया करायी जाती थी, वह ख़त्म हो गयी।

सरकार का यह दावा था कि इस नये कानून से सबके लिए रोज़गार के बराबर अवसर पैदा होंगे। यानी अभी रोज़गार के अवसर इसलिए नहीं पैदा हो रहे हैं क्योंकि मालिकों को अपनी मर्ज़ी से लोगों को रखने-निकालने का अधिकार नहीं है। भारत सरकार भी तो इन्हीं तर्कों को आधार पर श्रम के लचीलेपन की बात कर रही हैं और श्रम कानूनों को मालिक पक्षीय बनाने में जुटी है।

दरअसल, भूमण्डलीकरण, उदारीकरण के इस दौर का सूत्र वाक्य ही है – 'हायर एण्ड फायर' यानी जब चाहो काम पर रखो और जब चाहो निकाल दो।

('बिगुल' से साभार)

यह बात ठीक है कि फ्रांस में छात्रों और मज़दूरों की चट्टानी एकता ने सरकार को झुका दिया। इससे दुनिया भर में जनसंघर्षों को एक नयी ऊर्जा मिलेगी। लेकिन यह भी याद रखना होगा कि फ्रांस में उभरा जनान्दोलन एक स्वतःस्फूर्त (स्पाण्टेनियस) आन्दोलन था। सचेतनता का तत्व इसमें कम था। इस संघर्ष में जीत ज़रूर मिली। लेकिन यह भी याद रखना होगा कि हर जीत के बाद छात्र-मज़दूर जीत की ख़ुशी में डूब जाते हैं जबकि जीत और हार दोनों की ही सूरत में पूँजीपति वर्ग अगले हमले की तैयारी में जुट जाता है। जीत मिले या हार, ऐसे सभी जनान्दोलनों का विचारधारा से लैस होना बेहद ज़रूरी है। बिना वैचारिक परिपक्वता के जिस लक्ष्य को लेकर फ्रांस की जनता लड़ रही है वह पूरा नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह कि लड़ाई सिर्फ़ किसी एक सुधार या बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ नहीं बल्कि पूरे पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ है। ऐसे में दो चीज़ों के बिना यह आन्दोलन फौरी जीतें तो हासिल कर सकता है लेकिन इस मुद्दे को अन्तिम तौर पर निपटा नहीं सकता—विचारधारा और संगठन, यानी एक क्रान्तिकारी देशव्यापी पूँजीवाद-विरोधी संगठन।

लेकिन फिर आज के विपर्यय और पराजय के दौर में यह संघर्ष एक जनता की एक शानदार विजय है और इससे सीखने की जो सबसे बड़ी बात निकलती है वह यह है कि तमाम जनसंघर्षों को अलग-अलग होकर नहीं बल्कि एकजुट होकर ही मुकाम तक पहुँचाया जा सकता है। इस विजय से एक ओर दुनिया भर के छात्रों और मज़दूरों में ख़ुशी की लहर है वहीं दूसरी ओर लुटेरों का कलेजा पुकपुका रहा है कि कहीं फ्रांस की यह आग दूसरे देशों में भी न फैल जाए। यही कारण है कि इस संघर्ष की विजय के बाद छात्रों ने जिस नये संघर्ष का एलान किया है पूँजीवादी मीडिया ने उसका पूरी तरह ब्लैकआउट कर दिया।